

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे)

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह
“देखो, यह नियमसार का नियम! चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने पर जो रागादिभावों का अभाव होता है, वास्तव में उसे ही मोक्ष का नियम कहा है। इस शुद्धात्मा के आश्रय में ही मोक्षमार्ग का शुद्ध (यथार्थ) नियम प्रगट होता है।

अहो! आचार्यदेव को नियमसार में चिदानन्द आत्मा के अवलम्बन में ही समस्त क्रियायें समाहित दिखाई देती हैं। शुद्धज्ञायक वस्तु का आश्रय ही निश्चय से ह नियम से मोक्षमार्ग है। आत्मसन्मुखता के बिना कुछ भी करे उसे नियम संज्ञा प्राप्त नहीं होती।^१

यहाँ मात्र वचनरचना को छोड़ने के लिए ही नहीं कहा है, बल्कि मोह-राग-द्वेष आदि समस्त परभावों को भी छोड़ने के लिए कहा है।^२”

ग्रन्थ के आरम्भ में ही नियम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तीसरी गाथा में कहा गया था कि नियम से करने योग्य जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, वे ही नियम हैं।

यहाँ इस गाथा में कहा जा रहा है कि शुभाशुभवचनरचना का और रागादिभावों का निवारण करके अपने भगवान आत्मा का ध्यान करना ही नियम है।

उक्त दोनों बातों में कोई विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि निज भगवान आत्मा की आराधना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और आत्मा का ध्यान भी तो वीतरागभावरूप है, चारित्ररूप है, चारित्रगुण की पर्याय है, स्वात्मा में ज्ञान की स्थिरतारूप है।

यहाँ प्रायश्चित्ताधिकार होने से ध्यान को ही निश्चयप्रायश्चित्त बताया जा रहा है और नियम की चर्चा भी उक्त संदर्भ में ही है। अतः जिसप्रकार आत्मध्यान निश्चयप्रायश्चित्त है; उसीप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम भी निश्चयप्रायश्चित्त है ॥१२०॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज चार छंद लिखते हैं; जिनमें पहला छंद इसप्रकार है ह
(हरिणी)

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम् ।
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम् ॥१९१॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०००

२. वही, पृष्ठ १०००

(हरिगीत)

जो भव्य भावें सहज सम्यक् भाव से परमात्मा।
ज्ञानात्मक उस परम संयमवत को आनन्दमय॥
शिवसुन्दरी के सुख का कारण परमपरमात्मा।
के लक्ष्य से सद्भावमय शुधनियम होता नियम से॥१९१॥

जो भव्यजीव शुभाशुभवचनरचना को छोड़कर सदा स्फुटरूप से सहज परमात्मा को सम्यक् प्रकार से भाता है; उस ज्ञानात्मक परमसंयमी को मुक्ति सुन्दरी के सुख का कारणरूप यह शुद्धनियम नियम से होता है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“शुभाशुभ वचन रचना के विकल्प को छोड़कर जो भव्यजीव अन्तर में नित्य प्रगटपने सहजपरमात्मा की सम्यक्प्रकार से भावना भाता है, वह अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसे परम मुनिराज को मुक्तिरूपी स्त्री के सुख की प्राप्ति का कारण शुद्ध नियम प्रगट होता है। जगत में जिस स्त्री का संयोग होता है, उसका तो वियोग हो जाता है; परन्तु आत्मा की शुद्ध परिणतिरूपी स्त्री का सादि अनंतकाल में कभी भी विरह नहीं होता।”

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जो भव्यजीव वचन विकल्पों से विरक्त हो निज भगवान आत्मा की आराधना करता है; उस परमसंयमी संत को मुक्ति प्राप्त करनेवाला शुद्धनियम अर्थात् निश्चयप्रायश्चित्त या ध्यान नियम से होता है॥१९१॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह

(मालिनी)

अनवरतमखंडाद्वैतचिन्निर्विकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किंचित् ।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥१९२॥

(हरिगीत)

जो अनवरत अद्वैत चेतन निर्विकारी है सदा।
उस आत्म को नय की तरंगें स्फुरित होती नहीं।।
विकल्पों से पार एक अभेद जो शुद्धात्मा।
हो नमन, वंदन, स्तवन अर भावना हो भव्यतम॥१९२॥

जो अनवरतरूप से अर्थात् निरन्तर अखण्ड, अद्वैत चैतन्य के कारण निर्विकार है; उस भगवान आत्मा को नयों का विलास किंचित् मात्र भी स्फुरित नहीं होता;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००२

जिसमें समस्त भेदवाद अर्थात् नय संबंधी विकल्प दूर हुए हैं; उस परमपदार्थ को मैं नमन करता हूँ, मैं उसका स्तवन करता हूँ और मैं उसे भलीप्रकार से भाता हूँ।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह
“द्रव्य वस्तु तो अखण्ड है, उसमें भेदवाद नहीं है तथा ऐसी अखण्ड वस्तु ही दृष्टि का विषय है। पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि जिस अखण्ड परमात्मतत्त्व में शुद्ध-अशुद्धनय के विकल्पों का अभाव है ह ऐसे निज परमात्मतत्त्व को मैं नमन करता हूँ।

ऐसे परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने की, अनुभव करने की भावना करने में ही नमस्कार, स्तवन, सामायिक, भक्ति, समाधि इत्यादि सभी आ जाते हैं।

जो अपने अन्दर विराजमान परमात्म स्वरूप में एकाग्र हुआ है, उसने ही परमात्मा का वास्तविक स्तवन किया है, उसने ही परमात्मा को सच्चा नमस्कार किया है, उसने ही परमात्मा की भावना की है। अपने स्वरूप से अखण्ड परमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक उसमें ही एकाग्रता करना, वही नियम, स्तवन और वंदन है।”

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि अखण्ड, अद्वैत और निर्विकारी चेतनतत्त्वरूप भगवान आत्मा में नयों का विलास रंचमात्र भी नहीं है; क्योंकि वह तो नय विकल्पों से पार है। ऐसे भगवान आत्मा को मैं नमन करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ और उसकी भावना भाता हूँ।

तात्पर्य यह है कि नमन करने योग्य, स्तवन करने योग्य एवं भावना भाने योग्य एकमात्र निज भगवान आत्मा ही है; क्योंकि उसके आश्रय से ही बंध का अभाव होता है; अन्य किसी को नमन करने से, उसकी वंदना करने से, उसकी भावना भाने से बंध का अभाव नहीं होता, अपितु बंध ही होता है॥१९२॥

तीसरा व चौथा छन्द इसप्रकार है ह

(अनुष्टुभ्)

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत् ।
एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ॥१९३॥
भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे ।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्याहर्ते मते ॥१९४॥

(हरिगीत)

यह ध्यान है यह ध्येय है और यह ध्याता अरे।
यह ध्यान का फल इसतरह के विकल्पों के जाल से।।
जो मुक्त है श्रद्धेय है अर ध्येय एवं ध्यान है।
उस परम आत्मतत्त्व को मम नमन बारंबार है॥१९३॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००२-१००३

त्रिविध योगों में परायण योगियों को कदाचित्।
हो भेद की उलझन अरे बहु विकल्पों का जाल हो॥
उन योगियों की मुक्ति होगी या नहीं कैसे कहें।
कौन जाने क्या कहे हूँ यह समझ में आता नहीं॥१९४॥

यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और यह ध्यान का फल है हूँ ऐसे विकल्पजालों से जो मुक्त है, उस परमात्मतत्त्व को मैं नमन करता हूँ।

जिस योगपरायण योगी को कदाचित् भेदवाद उत्पन्न होता है; उसकी आर्हतमत मुक्ति होगी या नहीं होगी हूँ यह कौन जानता है ?

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

“यह मेरा परमात्मतत्त्व ही ध्येय है, मेरा आत्मा ही ध्याता है, मैं ही ध्यान करता हूँ तथा पूर्ण मुक्त दशा प्रगट होना ही ध्यान का फल है।” हूँ ऐसा भेदरूपी विकल्पों का जाल भी जिस परमात्मतत्त्व में नहीं है हूँ ऐसे उस सहज परमात्मतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ।^१

जो भेद से हूँ व्यवहार के आश्रय से मुक्ति मानता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत में नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्ज्ञानी तो भेद को मुक्ति का कारण जानता ही नहीं है। इसलिए यह कहा कि “भेद के आश्रय से अरहन्त के मत में मुक्ति होती है या नहीं” हूँ यह “कौन जाने?”

उक्त छन्दों में यह कहा गया है कि ध्यान, ध्याता और ध्येय और ध्यान का फल हूँ इन विकल्पों से आत्मध्यान नहीं होता, निश्चय-प्रायश्चित्त भी नहीं होता; क्योंकि निश्चयप्रायश्चित्त या निश्चयधर्मध्यान तो निर्विकल्पदशा का नाम है। इसलिए अब उक्त विकल्पजाल से मुक्त परमात्मतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ, उसे ही ध्यान का ध्येय जानता हूँ, मानता हूँ।

दूसरे छन्द में भेदविकल्पों में उलझे सन्तों को मुक्ति होगी या नहीं हूँ यह कहकर यह नहीं कहा कि हम नहीं जानते क्या होगा ? अपितु यही कहा है कि यह तो स्पष्ट ही है कि भेदवाद में उलझे लोगों को मुक्ति होनेवाली नहीं; क्योंकि मुक्ति का मार्ग तो निर्विकल्पदशारूप आत्मध्यान ही है।॥१९३-१९४॥

नियमसार गाथा १२१

यद्यपि सम्पूर्ण अधिकार में निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है; तथापि इस अधिकार की इस अन्तिम गाथा में उपसंहार के रूप में एक बार फिर निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है हूँ

कायाई परदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।

तस्स हवे तणुसगं जो ज्ञायइ णिव्वियप्पेण ॥१२१॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००४

(हरिगीत)

जो जीव स्थिरभाव तज कर तनादि परद्रव्य में।

करे आतमध्यान कायोत्सर्ग होता है उसे॥१२१॥

शरीरादि परद्रव्य में स्थिरभाव को छोड़कर जो आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है; उसे कायोत्सर्ग होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

“यह निश्चयकायोत्सर्ग के स्वरूप का कथन है।

सादि-सान्त, मूर्त, विजातीय विभावव्यंजनपर्यायात्मक अपना आकार ही काय (शरीर) है। आदि शब्द से क्षेत्र, घर, सोना, स्त्री आदि लेना चाहिए।

शरीर, स्त्री, पुत्र, खेत, मकान और सोना, चाँदी आदि सभी परद्रव्यों में स्थिरभाव छोड़कर; व्यावहारिक क्रियाकाण्ड संबंधी आडम्बर और विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित होकर; सहज परमयोग के बल से; सहजतपश्चरणरूपी क्षीरसागर का चन्द्रमारूप जो जीव; नित्य रमणीय, निरंजन निजकारणपरमात्मा को नित्य ध्याता है; वह सहज-वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिरोमणिरूप जीव वस्तुतः निश्चय-कायोत्सर्ग है।”

इस गाथा और टीका का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

“यहाँ शरीरादि परद्रव्यों में अपनापन छोड़कर निज आत्मा में निर्विकल्पपने अपनत्व स्थापित करने की प्रेरणा दी जा रही है। अथवा निश्चय कायोत्सर्ग का स्वरूप समझाया जा रहा है।

काया आदि परद्रव्य स्थिर नहीं है, नित्य नहीं हैं; अनित्य हैं, अस्थिर हैं। नित्य, स्थिर तो मेरा सहज स्वभाव है हूँ ऐसा समझकर जो अपने आत्मा को ही निर्विकल्पपने ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग होता है।^१

देखिये, यहाँ काया के उत्सर्ग (त्याग) के साथ-साथ क्षेत्र-घर आदि समस्त परद्रव्य के त्याग की बात भी सम्मिलित कर ली है।

काया चैतन्य के स्वभाव से विपरीत जाति की है, जैसे हूँ आत्मा अनादि-अनंत है और शरीर सादि-सांत है, आत्मा अमूर्तिक है और शरीर मूर्तिक है, आत्मा चैतन्य है और शरीर जड़मय है, आत्मा सहजज्ञान स्वरूप है और शरीर विभाव व्यञ्जनपर्यायरूप जड़ आकारवाला है। आत्मा स्थिर है और शरीर अस्थिर है; हूँ इसप्रकार शरीर मेरे से अत्यन्त भिन्न है।^२

देखो तो सही! व्यवहार क्रियाकाण्ड को आडम्बर कहा और उसके विविध

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००५-१००६

२. वही, पृष्ठ १००६

विकल्पों को कोलाहल कहा हूँ ऐसा कहकर समस्त हेयवृत्तियों का तिरस्कार किया है। अर्थात् छोड़ने योग्य समस्त विभाववृत्तियों को दूर फेंक दिया है।^१

अब कहते हैं कि जो जीव इन विकल्पों के कोलाहल से रहित होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है, वह जीव कैसा है?

सहज तपरूपी समुद्र को उछालने के लिए जो चन्द्रमा समान है, वह जीव सहज कारणपरमात्मा को विकल्पों के कोलाहल से रहित होकर नित्य ध्याता है तथा वह सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखरामणि है। हूँ ऐसे जीव को ही वास्तव में निश्चय कायोत्सर्ग है।

यह जीव जब सहज कारणपरमात्मा में एकाग्र हुआ, तब सहज परम वैराग्य हुआ तथा तभी तपरूपी समुद्र उछला और उसे यथार्थ कायोत्सर्ग हुआ।

वास्तव में तो शरीर का त्याग ज्ञानशरीरी आत्मा के अवलम्बन से ही होता है। खड़े रहने का अथवा बैठने का नाम उत्सर्ग नहीं है। सहज चैतन्य में लीनता का नाम ही उत्सर्ग है।^२

यद्यपि इस शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार में आदि से अर्थात् गाथा ११३ से लेकर गाथा ११८ तक निश्चयप्रायश्चित्त की ही चर्चा चलती रही है; तथापि अन्तिम तीन गाथाओं में क्रमशः ध्यान, शुद्धनिश्चयनियम और निश्चयकायोत्सर्ग की चर्चा हुई है।

इससे प्रतीत होता है कि शुद्धनिश्चयनय से ध्यान, निश्चयनियम और निश्चय कायोत्सर्ग एक प्रकार से शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त के ही रूपान्तर हैं।

इस गाथा और उसकी टीका में निश्चयकायोत्सर्ग का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है कि शरीर, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि एवं स्वर्णादि परपदार्थों में स्थिरभाव (कायादि स्थिर हैं हूँ इसप्रकार की मान्यता) छोड़कर, व्यवहारिक क्रियाकाण्ड एवं विकल्पों के कोलाहल से रहित होकर, परमयोग के बल से, जो जीव निजकारणपरमात्मा को ध्याता है; वह जीव ही निश्चयकायोत्सर्ग है ॥१२१॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पाँच छन्द लिखते हैं; उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है हूँ

(मंदाक्रांता)

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात्।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥१२५॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००६-१००७

२. वही, पृष्ठ १००७

(हरिगीत)

रे सभी कारज कायकृत मन के विकल्प अनल्प जो।

अर जल्पवाणी के सभी को छोड़ने के हेतु से ॥

निज आत्मा के ध्यान से जो स्वात्मनिष्ठापरायण।

हे भव्यजन उन संयमी के सतत् कायोत्सर्ग है ॥१२५॥

जो स्वात्मनिष्ठापरायण हैं; उन संयमियों को काया से उत्पन्न होनेवाले अति प्रबल कार्यों के त्याग के कारण, वाणी के जल्पसमूह की विरति के कारण और मानसिक विकल्पों की निवृत्ति के कारण तथा निज आत्मा का ध्यान के कारण निश्चय से सतत् कायोत्सर्ग है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

“जो अपने आत्मा में लीन हो गये हैं हूँ ऐसे संतों को हूँ मुनिराजों को चौबीस घण्टे अर्थात् प्रतिक्षण कायोत्सर्ग होता है; क्योंकि जो जीव आत्मा में लीन हो गया है, उसके देह सम्बन्धी समस्त विकल्पों से सहज ही विरक्ति हो जाती है। अर्थात् उसके देह की क्रियाओं में अपनत्व टूट जाता है, वाणी के जल्पसमूह से विरक्ति हो जाती है तथा मन के विकल्पों से भी मुक्ति मिल जाती है। हूँ इसप्रकार मन-वचन-काय तीनों की ओर वलण न होकर एक आत्मसम्मुख ही वलण होता है। इसलिए आत्मध्यान में लीन मुनिराज के निश्चय सतत् कायोत्सर्ग होता है।^१

कायोत्सर्ग अर्थात् काया का त्याग। काया के त्याग से तात्पर्य है काया के प्रति अनुराग छोड़ना, एकाग्रता छोड़ना और चैतन्य के प्रति एकाग्रता करना। चैतन्यतत्त्व में एकाग्र होने पर कायादि के प्रति वलण नहीं रहता हूँ इसे ही कायोत्सर्ग कहते हैं।^२”

उक्त छन्द में अत्यन्त सरल शब्दों में यह बात कही गई है कि अपने आत्मा में सलग्न संयमीजनों के न तो कायासंबन्धी अति प्रबल कार्य होते हैं; न वचनसंबन्धी अनर्गल प्रलाप होता है और न मन में विकल्पों का अंबार होता है। इसप्रकार मन-वचन-काय संबन्धी विकृति के अभाव के कारण और आत्मा के सतत् ध्यान के कारण निश्चय-नयाश्रित वीतरागी सन्तों के निरंतर निश्चयकायोत्सर्ग होता है ॥१२५॥

दूसरा व तीसरा छन्द इसप्रकार है हूँ

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुंजनिर्मग्नभास्वत्-

सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम्।

सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितन्मोघजातं।

भवभवपरितापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ॥१२६॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००८

२. वही, पृष्ठ १००८

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ॥१९७॥

(हरिगीत)

मोहतम से मुक्त आतमतेज से अभिषिक्त है ।
दृष्टि से परिपूर्ण सुखमय सहज आतमतत्त्व है ॥
संसार में परिताप की परिकल्पना से मुक्त है ।
अरे ज्योतिर्मान निज परमात्मा जयवंत है ॥१९६॥
संसारसुख अति अल्प केवल कल्पना में रम्य है ।
मैं छोड़ता हूँ उसे सम्यक् रीति आतमशक्ति से ॥
मैं चेतता हूँ सर्वदा चैतन्य के सदज्ञान में ।
स्फुरित हूँ मैं परमसुखमय आत्मा के ध्यान में ॥१९७॥

सहजतेजपुंज में निमग्न, मोहान्धकार से मुक्त, सहज प्रकाशमान परमतत्त्व सदा जयवंत है । वह परमतत्त्व सहज परमदृष्टि से परिपूर्ण है और वृथा उत्पन्न भव-भव के परिताप से कल्पनाओं से मुक्त है ।

कल्पनामात्र रमणीय तुच्छ सांसारिक सुख को मैं आत्मशक्ति से भलीप्रकार छोड़ता हूँ । तथा स्फुरायमान स्वयं के विलास से सहज परमसुखवंत चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मतत्त्व का मैं सर्वदा अनुभव करता हूँ ।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इन छन्दों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यहाँ टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि हे जीव! यदि तुझे कायोत्सर्ग करना हो तो यह जयवंत वर्तते हुए सहजतत्त्व में आ जा । आत्मा के सिवाय अन्य देहादि पदार्थ जयवंत नहीं वर्तते । सहज ज्ञानपुंज स्वरूप वस्तुस्वभाव में सहजतत्त्व निमग्न है अर्थात् सहजतत्त्व स्वयं अपने स्वभाव में ही निमग्न है ।”

संसार में स्वर्ग के भव का, भोगभूमि के जुगलियों के भव का सुख तो कल्पनामात्र रम्य है और हीन है; उनमें कहीं भी वास्तविक सुख नहीं है । इसलिए ऐसे भव-भव के कल्पित सुख को मैं आत्मशक्ति से छोड़ता हूँ । किसी पर की शक्ति से भव के भाव का अभाव नहीं होता; परन्तु स्वभाव की शक्ति से ही भव-भव के कल्पित सुख का त्याग होता है ।

मैं अन्तर्मुख आत्मशक्ति में एकाग्र होकर इन्द्रियों के प्रति होनेवाले अनुराग को छोड़ता हूँ । और अपने चैतन्य चमत्कार मात्र स्वभाव का ही अनुभव करता हूँ; क्योंकि

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००९

मेरा आत्मा सहज-स्वाभाविक परमसुखमय है, चैतन्यचमत्कार मात्र है तथा भव-भव का सुख कल्पित है । आत्मा का निज विलास प्रगट हुआ है । अतः मैं ऐसे आत्मा का ही सर्वदा अनुभव करता हूँ । देखो, इसका नाम भव-भव का प्रायश्चित्त है ।”

उक्त छन्दों में आत्मा के शाश्वत स्वरूप का उद्घाटन करते हुए विषय-कषायों से विरक्त हो आत्मारोधना करने का संकल्प व्यक्त किया गया है । कहा गया है कि यह भगवान आत्मा सहजतेज का पुंज, मोहान्धकार से मुक्त, सहजप्रकाशनमात्र परिपूर्ण परमतत्त्व है । यह परमात्मतत्त्व मैं स्वयं ही हूँ । अतः अब मैं कल्पनामात्र रमणीक संसारसुखों को तिलांजलि देकर परमसुखमय आत्मा की आराधना में संलग्न होता हूँ ॥१९६-१९७॥

चौथा व पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह

(पृथ्वी)

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा ।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदुःकर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तितः खलु हतोस्मि हा संसृतौ ॥१९८॥

(हरिगीत)

समाधि की है विषय जो मेरे हृदय में स्फुरित ।
स्वातम गुणों की संपदा को एक क्षण जाना नहीं ।
त्रैलोक्य वैभव विनाशक दुष्कर्म की गुणशक्ति के ।
निमित्त से रे हाय मैं संसार में मारा गया ॥१९८॥

मेरे हृदय में स्फुरायमान, समाधि की विषयभूत अपने आत्मा के गुणों की संपदा को मैंने पहले एक क्षण को भी नहीं जाना । तीन लोक के वैभव को नाश करने में निमित्तरूप दुष्ट कर्मों की प्रभुत्वगुणशक्ति से मैं संसार में मारा गया हूँ, हैरान हो गया हूँ ।

(आर्या)

भवसंभवविषभूरुहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्ध्वा ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुंजे ॥१९९॥

(दोहा)

सांसारिक विषवृक्षफल दुख के कारण जान ।
आत्मा से उत्पन्न सुख भोगूँ मैं भगवान ॥१९९॥

संसार में उत्पन्न होनेवाले विषवृक्ष के समस्त फल को दुःख का कारण जानकर मैं चैतन्यात्मक आत्मा में उत्पन्न विशुद्ध सुख का अनुभव करता हूँ ।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०११

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह
 “देखो, यह प्रायश्चित्त की विधि! मेरे आत्मा में प्रगट जो निजात्मगुण सम्पदा है, जो समाधि का विषय है, मैंने उसे पूर्व में कभी एक क्षण भी नहीं जाना है। चैतन्य स्वभाव की सम्पदा को अपने श्रद्धा-ज्ञान का विषय नहीं बनाया है। अरे रे! ऐसी चैतन्यप्रभुता को भूलकर मैं दुष्टकर्मों की प्रभुता से हैरान हो गया हूँ ह मारा गया हूँ।

मैंने अपनी चैतन्यप्रभुता को नहीं जाना, इसलिए दुष्कर्मों की प्रभुता प्रगट हुई। मुझे मेरी चैतन्य सम्पदा का महत्त्व भासित नहीं हुआ और विकार का महत्त्व लगा; इसलिए ही मैं संसार में रखड़ा गया; यदि चैतन्य की प्रभुता का महत्त्व भासित हुआ होता तो विकार का, पुण्य-पाप का महत्त्व भासित नहीं होता।

चैतन्य सम्पदा को भूलकर कर्मोदयजन्य प्रभुता से जुड़ने पर ही, तीन लोक को युगपत जाननेवाला हूँ ऐसा आन्तरिक निजवैभव तथा इन्द्र भी जिसे नमस्कार करें हूँ ऐसा तीर्थंकर की विभूतिरूप बाह्य वैभव मुझसे छिन गया है। हूँ ऐसा जानकर अब चैतन्य शक्ति की प्रभुता का आश्रय करके प्रायश्चित्त किया है अर्थात् चैतन्यशक्ति को संभाल लिया है, अब संसार में परिभ्रमण नहीं होगा।

पहले अपनी प्रभुता को स्वयं भूला, तब बाद में जड़ ने प्रभुता प्रगट की। यहाँ यह नहीं बताया कि कर्म की प्रभुता के कारण मैं अपनी प्रभुता को भूला है।”

आत्मा की प्रभुता को भूलकर पर मैं आत्मबुद्धि से स्वयं पर का समागम किया, इसलिए संसार में रखड़ा गया। अरे रे! मैं मेरी प्रभुता को पूर्व में भूल गया था हूँ ऐसा कौन कहे? जिसे अपनी प्रभुता का वर्तमान में भान हुआ हो, वही कहता है कि चैतन्य की प्रभुता के आश्रय से प्रायश्चित्त करने के कारण अब मैं संसार में हैरान नहीं होऊँगा।”

उक्त छन्दों में अधिकार का समापन करते हुए अपने आत्मा को नहीं जानने से आज तक हुई अपनी दुर्दशा का चित्रण किया गया है। साथ में इस स्थिति से उबरने के लिए आत्मा से उत्पन्न विशुद्ध सुख का अनुभव करने की बात भी कही गई है।

उक्त दो छन्दों में से पहले छन्द में इस बात पर खेद व्यक्त किया गया है कि जो मुझे अनन्त सुखसमाधि को प्राप्त कराने में समर्थ है, समाधिरूप ध्यान का ध्येय है; ऐसे भगवान आत्मा और उसकी संपदा को मैंने आजतक एक क्षण को भी नहीं जाना।

यही कारण है कि तीन लोक के वैभव का नाश करने में हेतुभूत दुष्ट कर्मों की प्रभुत्वगुणशक्ति से मैं संसार में मारा गया हूँ, मारा-मारा भटक रहा हूँ, अनन्त दुःख उठा रहा हूँ।

दूसरे और इस अधिकार के अन्तिम छन्द में संसार में उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रिय

के विषय और कषायरूप विषवृक्ष के फलों को दुःस्वरूप और दुःख का कारण जानकर सन्तों द्वारा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में उत्पन्न विशुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द के भोगने की, अनुभव करने की बात कही गई है।

इसप्रकार निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला यह शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्ताधिकार समाप्त होता है।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार नामक आठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

परमसमाधि अधिकार

(गाथा १२२ से गाथा १३३ तक)

नियमसार गाथा १२२

इस परमसमाधि अधिकार को आरंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमल-धारिदेव लिखते हैं ह

“अब समस्त मोह-राग-द्वेषादि परभावों के विध्वंस का हेतुभूत परमसमाधि अधिकार कहा जाता है।”

अब नियमसार की गाथा १२२वीं एवं परमसमाधि अधिकार की पहली गाथा में परमसमाधि के धारक का स्वरूप समझाते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।

जो ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

(हरिगीत)

वचन उच्चारण क्रिया तज वीतरागी भाव से।

ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे ॥१२२॥

वचनों के उच्चारण की क्रिया छोड़कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है; उसे परमसमाधि होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यह परमसमाधि के स्वरूप का कथन है।

यद्यपि अशुभ से बचने के लिए कभी-कभी दिव्यध्वनि से मंडित परमवीतरागी तीर्थंकर सर्वज्ञ देव का स्तवनादि परम जिनयोगीश्वरों को भी करने योग्य कहा गया है; तथापि परमार्थ से प्रशस्त-अप्रशस्त सभी वचन संबंधी व्यापार (क्रिया) करने योग्य नहीं है।

इसलिए समस्त वचनरचना को छोड़कर समस्त कर्मरूपी कलंकरूप कीचड़ से

मुक्त भाव से एवं भावकर्म से रहित भाव से अर्थात् परम वीतरागभाव से तथा त्रिकाल निरावरण नित्य शुद्ध कारणपरमात्मा को; अपनी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न निश्चय धर्मध्यान से एवं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव में लीन परम शुक्लध्यान से जो परम वीतराग तपश्चरण में लीन निर्विकार संयमी ध्याता है; उस द्रव्यकर्म और भावकर्म की सेना को लूटनेवाले संयमी को वस्तुतः परमसमाधि होती है।”

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“शुभ-अशुभ समस्त विकल्पों से रहित होकर ज्ञानानन्दस्वरूप के अनुभव में लीन होना ही परमसमाधि है। इसलिए स्वाध्याय आदि का जो विकल्प है, उसे भी छोड़कर परम वीतरागभावपूर्वक कारण परमात्मा का ध्यान करना ही परमसमाधि है।

जबतक ऐसी परमसमाधि नहीं हो जाती, तबतक वीतरागता के पोषक जिनशास्त्रों का स्वाध्याय, वीतराग देव की स्तुति आदि शुभ विकल्प आते हैं; परन्तु इनके अलावा अन्य अशुभ विकल्प नहीं आते।

परमार्थ से तो वह शुभराग भी कादव है ह मलिन है, विकार है; उसका व्यापार भी करने योग्य नहीं है। इन मलिन परिणामों से रहित जो वीतरागी परिणामों द्वारा कारणपरमात्मा का ध्यान करता है, उसे ही परमसमाधि होती है।^१

ऐसे स्वभाव के आश्रय से ‘जो सम्यग्दर्शन हुआ’ ह यह श्रद्धा की अपेक्षा परमसमाधि है; पर यहाँ तो उसमें लीनतापूर्वक मुनियों को होनेवाली परमसमाधि की बात है, सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागी चारित्र की बात है। अन्तरस्वभाव की दृष्टिपूर्वक उसमें लीनतारूप वीतरागी चारित्र ही वास्तविक समाधि है।”^२

उक्त गाथा और उसकी टीका में मूलतः यही कहा गया है कि परम समाधि की प्राप्ति उन शुद्धोपयोगी वीतरागी सन्तों को ही होती है; जो मन, वचन और काय संबंधी सभी रागात्मक विकल्पों से पार होकर पूर्ण वीतरागभाव से निर्विकल्प शुद्धोपयोग में समा जाते हैं।

यद्यपि यह परम सत्य है कि सभी प्रकार के शुभाशुभभाव करने योग्य नहीं हैं; तथापि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्तों के अशुभभाव से बचने के लिए कभी-कभी वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति और उनकी वाणी के श्रवण, अध्ययन, मनन-चिन्तन आदि के भाव भी आते रहते हैं; पर वे उपादेय नहीं हैं, विधेय नहीं हैं।

अतः परमसमाधि के उपासक सन्तों को उनमें अधिक उलझना, निरन्तर उलझे रहना उचित नहीं है।

इस गाथा की टीका समाप्त करते हुए टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह

(वंशस्थ)

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां

हृदि स्फुरन्तीं समतानुयायिनीम्।

यावन्न विद्मः सहजात्मसंपदे

न मादृशां या विषया विदामहि ॥२००॥

(हरिगीत)

समाधि बल से मुमुक्षु उत्तमजनों के हृदय में।

स्फुरित समताभावमय निज आत्मा की संपदा॥

जबतक न अनुभव करें हम तबतक हमारे योग्य जो।

निज अनुभवन का कार्य है वह हम नहीं हैं कर रहे ॥२००॥

किसी ऐसी अकथनीय परमसमाधि द्वारा श्रेष्ठ आत्माओं के हृदय में स्फुरायमान समता की अनुगामिनी सहज आत्मसम्पदा का जबतक हम (मुनिराज) अनुभव नहीं करते; तबतक हम जैसे मुनिराजों का जो विषय है, उसका हम अनुभव नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि मुनिराजों का मूलधर्म तो यही है कि वे अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहें; क्योंकि उसके बिना वे उस महत्त्वपूर्ण काम से वंचित रह जावेंगे; जिसके लिए उन्होंने यह मुनिधर्म धारण किया है।

नियमसार गाथा १२३

परमसमाधि का स्वरूप बतानेवाली १२३वीं गाथा इसप्रकार है ह

संजमणियमतवेण दु धम्मज्जाणेण सुक्कज्जाणेण।

जो ज्ञायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

(हरिगीत)

संयम नियम तप धरम एवं शुक्ल सम्यक् ध्यान से।

ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे ॥१२३॥

संयम, नियम, तप, धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है; उसे परमसमाधि होती है।

इस १२३वीं गाथा की दूसरी पंक्ति तो १२२वीं गाथा के समान ही है; जिसमें कहा गया है कि जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“इस गाथा में समाधि का लक्षण कहा गया है।

सभी इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग संयम है और निज आत्मा की आराधना में तत्परता नियम है। आत्मा को आत्मा में स्वयं से धारण किए रहना ही अध्यात्म है, तप है।

सम्पूर्ण बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर के परित्याग लक्षणवाली अन्तःक्रिया के

आधारभूत आत्मा को निरवधि त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप जाननेवाले जीव की परिणति विशेष स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान है और ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान का फल आदि के विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रियों से अगोचर, निरंजन निज परमात्म तत्त्व में अविचल स्थिति निश्चय शुक्लध्यान है।

इसप्रकार विशेष सामग्री से सहित, अखण्ड, अद्वैत, परमचैतन्यमय आत्मा को, जो परमसंयमी नित्य ध्याता है; उसे वस्तुतः परमसमाधि है।”

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“इस गाथा में संयम, नियम, तप तथा धर्मध्यान व शुक्लध्यान ह इसप्रकार परमसमाधि के पाँच साधनों का वर्णन किया गया है।

उक्त पाँच साधनों द्वारा जो जीव अपने आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि होती है। आत्मा का ध्यान करना अर्थात् आत्मा में ही लीन हो जाना निश्चय से परमसमाधि है।”

इसके बाद स्वामीजी संयम, नियम, तप, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के स्वरूप को विस्तार से समझाते हैं, जो मूलतः पठनीय है।

इस गाथा और इसकी टीका में यही कहा गया है कि इन्द्रियों के व्यापार के परित्यागरूप संयम, आत्मा की आराधना में तत्परतारूप नियम, स्वयं को स्वयं में धारणरूप तप, स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान और निरंजन निज परमात्मतत्त्व में अविचल स्थितिरूप शुक्लध्यानरूप विशेष सामग्री सहित, अखण्ड, अद्वैत, परमचैतन्य आत्मा का ध्यान ही परमसमाधि है।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह
(अनुष्टुभ्)

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये ।

द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम् ॥२०१॥

(हरिगीत)

निर्विकल्पक समाधि में नित रहते जो आत्मा।

उस निर्विकल्पक आत्मा को नमन करता हूँ सदा ॥२०१॥

जो सदा चैतन्यमय निर्विकल्प समाधि में रहता है; उस द्वैताद्वैत के विकल्पों से मुक्त आत्मा को मैं नमन करता हूँ।

उक्त छन्द में समाधिरत आत्मा को अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार किया गया है।